शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

फरवरी : १९५९ ☆ वर्ष चौदहवाँ, माघ वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : १०

संतजन सर्वज्ञ के मार्ग पर चले जा रहे हैं....

श्री पंचास्तिकाय की १० वीं गाथा में—'भण्णंति सव्वण्हू'—ऐसा कहकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव घोषित करते हैं कि सर्वज्ञभगवान ने जो कुछ कहा है, वह हमने झेला है।

अहो, सर्वज्ञनाथ! आपने सर्वज्ञता से जगत के सर्वपदार्थों को एक क्षण में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक देखा है और जैसा देखा, वैसा ही कहा है। हे देव! पदार्थों का ऐसा स्वरूप आपके सिवा अन्य किसी ने प्रत्यक्ष नहीं देखा और न अन्यत्र कहीं कहा है; और न आपके शासन के भक्तों के अतिरिक्त कोई उसकी यथार्थ प्रतीति ही कर सकता है।

हे सर्वज्ञ भगवान! आप कथन करनेवाले हैं और हम उसके श्रोता हैं। आपने जो कहा, वह हमने झेला है... उसे झेलकर हम भी आपके मार्ग पर चले आ रहे हैं... इसलिये हम भी अब अल्पकाल में आपकी भाँति सर्वज्ञ हो जायेंगे।

[कार्तिक शुक्ला-१४ वीर सं० २४८३]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१६६]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

—वह जीव संसार में भटकता है

श्री गुरुओं ने निर्विकल्प शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप जिस मोक्षमार्ग का उपदेश दिया, उसे जो नहीं जानता और भ्रम से राग को मोक्षमार्ग मानता है, वह जीव भ्रान्तिवाला अज्ञानी है, मोही है। सम्यग्ज्ञानभावरहित विमुग्ध ऐसा वह मोही जीव शुभाशुभ अनेकविध कर्मों को करता हुआ मोक्षमार्ग की लेशमात्र भी वांछा करना नहीं जानता; उसकी जिज्ञासा भी नहीं करता; उस जीव को लोक में कोई शरण नहीं है। जगत में शरणरूप ऐसा जो अपना शुद्ध आत्मा—उसे वह जानता नहीं है और अशरणभूत ऐसे राग को शरणरूप मानता है; उसे जगत में कोई शरण नहीं है। वह राग की ही वांछा करता है किन्तु मोक्षमार्ग की किंचित् वांछा नहीं करता; मोक्षमार्ग क्या है, उसे जानता भी नहीं है; इसलिये वह मोह से अशरणरूप संसार में ही भटकता है।

[–नियमसार कलश ३२ के प्रवचन से]

—वह जीव मोक्ष प्राप्त करता है

पहले मोह–राग–द्वेषयुक्त होने पर भी, जो पुरुष जिज्ञासु होकर परमगुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से निर्विकल्प समयसार को जानता है, वह मुक्ति प्राप्त करता है। श्रीगुरु ने क्या कहा ?—कि निर्विकल्प समयसार का अनुभव करने को कहा। श्रीगुरु का उपदेश झेलकर शिष्य ने क्या किया ?—कि निर्विकल्प आत्मा का अनुभव किया। इसप्रकार श्रीगुरु का उपदेश झेलकर तदनुसार जिसने निर्विकल्प आत्मा का अनुभव किया, उसने श्रीगुरु के चरण की सच्ची उपासना की; और जो जीव श्री गुरु के चरण की सेवा के प्रसाद से शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, उसके सकल मोह–राग–द्वेष का क्षय होकर वह मोक्षपद प्राप्त करता है। [–नियमसार कलश ३० के प्रवचन से]

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

फरवरी : १९५९ ☆ वर्ष चौदहवाँ, माघ वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : १०

भरत-वैराग्य

महाराज दशरथ ने वैराग्य प्राप्त कर जिन दीक्षा अंगीकार की; श्री राम-लक्ष्मण-सीताजी वनवास चले गये और अयोध्या के राजसिंहासन पर वैराग्यवंत भरतकुमार का राज्याभिषेक हुआ... वैरागी भरत की कथा अब आगे बढ़ती है।

[महा पद्मपुराण पर आधारित : ब्र० हरिलाल जैन]

श्री राम-लक्ष्मण-सीता के वन गमन के पश्चात् कैकेयी को अत्यन्त पश्चाताप होता है और कैकेयी तथा भरत आदि रामचन्द्रजी के पास पहुँच कर उनसे वापिस लौटने तथा राज्य संभालने का अत्याग्रह करते हैं... किन्तु पिताजी के वचन का ध्यान रखकर रामचन्द्रजी वापिस नहीं लौटते। भरतकुमार उदासीनतापूर्वक श्रावकधर्म अंगीकार करते हैं और न्याय-नीति के साथ राज्य का संचालन करते हैं।

इधर रामचन्द्रजी आदि देश-देशान्तर में भ्रमण करते हुए एकबार अत्यन्त भक्तिपूर्वक देशभूषण-कुलभूषण मुनिराज का उपसर्ग दूर करते हैं और उन मुनिवरों को केवलज्ञान होता है। तत्पश्चात् 'वंशगिरि' पर्वत पर श्री रामचन्द्रजी सैकड़ों भव्य जिन-मन्दिरों का निर्माण कराते हैं और वह पर्वत 'रामगिरि' के नाम से प्रसिद्ध होता है। एक बार नर्मदा के किनारे वन में श्री रामचन्द्रजी गुप्ति-सुगुप्ति नाम के चरण मुनिवरों को भक्तिपूर्वक आहार दान देते हैं; वह प्रसंग देखकर वृक्ष पर बैठे हुए एक गृद्ध पक्षी को जातिस्मरण होता है और वह मुनिराज के चरणों में भक्तिपूर्वक पंख फैलाकर नृत्य करता है।

एकबार त्रिखण्डाधिपति राजा रावण कपटपूर्वक सीताजी को हर ले जाता है; राम-लक्षण का उसके साथ युद्ध होता है, जिसमें लक्ष्मणजी चक्र द्वारा रावण का घात करते हैं। रावण की मृत्यु

के पश्चात् उसके पुत्र इन्द्रजीत और कुंभकर्ण जिनदीक्षा अंगीकार करते हैं; मंदोदरी आदि हजारों रानियाँ भी दीक्षा लेकर अर्जिका हो जाती हैं... राम-लक्ष्मण-सीता आदि लंका में रावण के महल में शांतिनाथ जिनमंदिर में भक्ति करते हैं... और फिर त्रिखण्डाधिपति राम-लक्ष्मण बलदेव-वासुदेव के रूप में अयोध्या-नगरी में प्रवेश करते हैं; अयोध्या के घर-घर में रत्नवृष्टि होती है और जगह-जगह नूतन जिनमंदिरों का निर्माण होता है। राम-लक्ष्मण-सीता के दर्शनों से भरत को अपार हर्ष होता है।

जिस प्रकार पिंजरे के सिंह को वन में जाने की उत्कण्ठा होती है, उसी प्रकार गृह-संसार से उदासीन भरतकुमार को वनवासी मुनि बनने की इच्छा जागृत होती है। एक बार तो वे घर छोड़कर चले जाने की तैयारी करते हैं, किन्तु कैकेयी के कहने से राम-लक्ष्मण उन्हें रोक लेते हैं और श्री रामचन्द्रजी अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनसे कहते हैं कि "हे बन्धु! पिताजी ने वैराग्य लेते समय तुम्हीं को इस राज्यसिंहासन पर बिठाया है, इसलिये तुम्हीं इस रघुकुल के स्वामी हो। यह सुदर्शन चक्र तथा देव और विद्याधर तुम्हारे अनुशासन में रहेंगे। मैं तुम्हारे सिर पर छत्र रखूँगा, भाई शत्रुघ्न चँवर ढोलेंगे और लक्ष्मण तुम्हारा मंत्रित्व करेंगे। हे भरत! यदि तुमने हमारा वचन नहीं माना तो हम फिर विदेश चले जायेंगे... मृगों की भाँति वन में रहेंगे। हम तो रावण को जीतकर तुम्हारे दर्शनों की इच्छा से यहाँ आये हैं; इसलिये तुम्हीं यह राज्य करो। फिर तुम्हारे साथ मैं भी मुनिपद धारण करूँगा।"

किन्तु भरत तो महानिस्पृह हैं, विषयों से उनका चित्त अत्यन्त विरक्त हो गया है। वे कहते हैं कि हे देव! इस राज्य सम्पदा को मैं तत्काल छोड़ना चाहता हूँ; इसे छोड़कर शूरवीर पुरुषों ने मोक्ष प्राप्त किया है; मैं भी मुनि होकर शीघ्र ही मोक्ष की साधना करना चाहता हूँ। स्वर्ग समान इन भोगों में या राज्य सम्पदा में मुझे किंचित् रुचि नहीं है। रत्नत्रयरूपी जहाज में बैठकर मैं इस संसार समुद्र से पार होना चाहता हूँ। यह आत्मा अनंत काल के जन्म-मरण से खेदखिन्न हुआ—अब उससे बस होओ!

भरत की यह वैराग्यवाणी सुनकर अनेक महान राजाओं की आँखों से आँसू बहने लगते हैं। वे गद्गद् स्वर में कहते हैं—हे महाराज! पिता की आज्ञानुसार कुछ दिन राज्य करें... फिर मुनिधर्म अंगीकार करना...

तब भरत कहते हैं कि—मैंने पिताजी के आदेशानुसार बहुत दिनों तक राज्य किया और राज्यसम्पदा का उपभोग किया; अब तो मैं पिताजी के पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहता हूँ। अरे!

आप लोग इस वस्तु का अनुमोदन क्यों नहीं करते ? प्रशंसनीय वस्तु में विवाद कैसा ? हे श्रीराम्! हे लक्ष्मण! आपने बलदेव-वासुदेव का महान वैभव प्राप्त किया है, तथापि मुझे उसमें रुचि नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार समुद्र, नदियों के जल से कभी तृप्त नहीं होता; उसी प्रकार बाह्य विषयों द्वारा आत्मा को कभी तृप्ति नहीं होती; इसलिये अब तो मैं तत्त्वज्ञान के मार्ग में (मुनिमार्ग में) प्रवर्तन करूँगा।

—ऐसा कहकर अत्यन्त विरक्त वह भरत, राम-लक्षण से बिना पूछे ही वैराग्यपूर्वक उठा, जिस प्रकार पहले भरत चक्रवर्ती उठे थे। गम्भीर चाल से चलता हुआ भरत, मुनिराज के निकट जाने को कटिबद्ध हुआ... उस समय लक्ष्मण ने स्नेहपूर्वक उसका हाथ पकड़कर रोका... माता कैकेयी भी आँसू बहाती आई। राम-लक्ष्मण की रानियों (सीताजी, विशल्या आदि) ने भी भरत से बहुत प्रार्थना की और जल-क्रीड़ा के लिये सरोवर के किनारे ले गईं। किन्तु भरत तो अत्यन्त विरक्त हैं... सब जलक्रीड़ा कर रहे हैं और वे सरोवर के किनारे खड़े हैं... फिर पास वाले जिनमंदिर में जाकर भगवान की पूजा-भक्ति करते हैं।

ठीक उसी समय त्रिलोकमण्डन हाथी—जो कि रावण का मुख्य हाथी था और जिसे रामचन्द्रजी लंका से अयोध्या लाये थे वह—गजबंधन तोड़कर गगनभेदी गर्जना करता हुआ भागा। लोग भयभीत हो गये। हाथी नगर का द्वार तोड़कर वहाँ पहुँचा जहाँ भरत पूजा कर रहे थे.. सीता आदि रानियाँ भयभीत होकर भरत की शरण में आईं। हाथी को भरत की ओर जाते देखकर उनकी माता हाहाकार करने लगी... सीता आदि को बचाने के लिये भरत उनके आगे आकर खड़े हो गये। भरत को देखते ही हाथी को जातिस्मरण हुआ... अपना पूर्वभाव विचार कर शांतचित्त हो गया.. और सूँढ़ झुकाकर विनयपूर्वक भरत के निकट खड़ा हो गया। भरत ने मधुर वाणी में कहा कि—अहो गजराज! तुम किस कारण क्रोधित हुए ? भरत के वचन सुनकर त्रिलोकमण्डन शांत एवं सौम्य चित्त होकर उनकी ओर देखने लगा और विचारने लगा कि—अहा! यह भरत तो मेरा परम मित्र है; छठवें स्वर्ग में हम दोनों साथ थे; वहाँ से यह तो उत्तम पुरुष हुआ और मैंने महानिंद्य पशुयोनि में अवतार लिया! धिक्कार है इस जन्म को! किन्तु अब सोच करना व्यर्थ है; अब तो ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे आत्मा का कल्याण हो और संसार में परिभ्रमण न करना पड़े। अब सोच करने से क्या होगा ? अब तो सर्व प्रकार का उद्यम करके भवदुःख से छूटने का उपाय करना चाहिये—इसप्रकार, जिसे पूर्वभव का भान हुआ है—ऐसा वह गजेन्द्र अत्यन्त विरक्त होकर हित चिन्तन करने लगा।

चौथे दिन उसके महावतों ने श्री राम-लक्ष्मण से आकर कहा कि—हे देव! गजराज को आज चौथा दिन है। न तो कुछ खाता-पीता है और न सोता है। क्रोधित होकर शांत होने के बाद उसने समस्त चेष्टाएँ छोड़ दी हैं। निश्चलरूप से शांतचित्त से आँखें मूँदकर ध्यानारूढ़ खड़ा रहता है। न तो गीत सुनता है, न नृत्य देखता है; पता नहीं चलता उसके मन में क्या है? यह सुनकर दोनों भाई भी चिन्तित होकर सोचने लगे कि हाथी गजबंधन तोड़कर किसलिये भाग और फिर अचानक भरत के समक्ष क्यों क्षमावान बनकर खड़ा हो गया? और तभी से आहार-जल क्यों नहीं लेता?

—उसी समय अनेक मुनियों सहित श्री देशभूषण-कुलभूषण केवली भगवंत अयोध्या में पधारे।—वही मुनि थे जिनका उपसर्ग श्रीराम-लक्ष्मण ने विदेश गमन के समय दूर किया था। केवली भगवंतों का आगमन सुनकर भरत आदि के हर्ष का पार न रहा। राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न, त्रिलोकमण्डन हाथी पर बैठकर उनके दर्शनों के लिये गये; साथ में कौशल्य-सुमित्रा-कैकेयी और सुप्रभा चारों राजमाताएँ भी अनेक रानियों सहित पहुँची; सुग्रीव आदि अनेक विद्याधर राजा भी साथ हो गये। दूर से ही केवली भगवान को देखकर राम आदि हाथी से उतर गये और उनके निकट पहुँचकर विनयपूर्वक दर्शन-पूजनादि करने लगे। फिर रागनाशक एवं वैराग्य-उत्पादक ऐसा भगवान का उपदेश दिव्यध्वनि द्वारा सुना।

उस समय लक्ष्मण ने पूछा कि—यह त्रिलोकमंडन हाथी बंधन तोड़कर क्रोधित हुआ और फिर भरत को देखकर तत्काल शांत हो गया। अब तो यह खानपान से भी विरक्त हो गया है—इसका कारण क्या?

तब दिव्यध्वनि द्वारा भगवान देशभूषण कहने लगे कि पहले तो वह लोगों की भीड़ देखकर मदोन्मत्तता के कारण क्षुभित हुआ और फिर भरत को देखते ही पूर्वभवों का स्मरण होते ही वह शांत एवं विरक्त हो गया। भरत और हाथी का सम्बन्ध अनेक भवों से चला आ रहा है। भगवान ऋषभदेव के समय में वे दोनों सूर्योदय और चन्द्रोदय नाम के भाई थे; उस समय मारीचि के सम्बन्ध से मिथ्यात्व के सेवन द्वारा कुधर्म का आचरण करके अनेक भवों में भटकते-भटकते, विमलनाथ भगवान के समय में दोनों हरिण हुए; उस समय उन्हें स्वयंभूति नाम के तीसरे नारायण ने पकड़कर जिनमन्दिर के निकट रखा। जिनमन्दिर के समीप होने के कारण उन हरिणों को अनेक मुनियों के दर्शन तथा जिनवाणी का श्रवण होता था।

वहाँ से भरत का जीव तो बीच में स्वर्गादि के कुछ अवतार धारण करके पश्चिम विदेहक्षेत्र

में चक्रवर्ती का पुत्र हुआ; वहाँ तीन हजार रानियाँ होने पर भी संसार से अत्यन्त विरक्तता के कारण तीक्ष्ण असिधारा व्रत का पालन करके छठवें-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में गया।

और हाथी का जीव अनेक अवतार धारण करके एक राजा के यहाँ मृदुमती नाम का पुत्र हुआ। मृदुमती के भव में विषय कषायों से विरक्त होकर मुनि हुआ। एकबार एक नगरी के निकट पर्वत पर कोई गुणनिधान महामुनि चार महीने के उपवास कर रहे थे। चार महीने पूर्ण होने पर वे गुणनिधान मुनि तो विहार कर गये और उसी समय मृदुमति मुनि उस नगरी आये। नगर के लोगों ने मृदुमति मुनि को ही पूर्वोक्त चार महीने के उपवास करनेवाले मुनि समझकर बड़े भक्तिभावपूर्वक उनका सन्मान किया और आहार दिये। मृदुमती ने भी समझ लिया कि चार महीने तक पर्वत पर रहकर उपवास करनेवाला मुनि मानकर लोग उनकी अधिक अशंसा कर रहे हैं; तथापि मान के कारण न तो उन्होंने लोगों के सामने स्पष्टीकरण किया और न गुरु के निकट प्रायश्चित करके शल्य दूर की, वही तीव्र मायाशल्य उनके तिर्यंच अवतार का कारण बन गई। वहाँ से तो वे मृदुमती मुनि छठवें स्वर्ग में भरत के जीव के साथ उत्पन्न हुए।

—इसप्रकार छठवें स्वर्ग में भरत और हाथी दोनों के जीव साथ थे। वहाँ से एक जीव ने तो भरत के रूप में अवतार लिया और दूसरे ने त्रिलोकमण्डल हाथी के रूप में। पूर्व भव का सम्बन्ध होने के कारण ही भरत को देखकर हाथी को जातिस्मरणज्ञान हुआ और वह शांत हो गया तथा संसार से विरक्त होकर आत्महित का चिंतन करता हुआ खानपान से भी उदास वर्त रहा है। भरत तो इसी भव में मोक्ष प्राप्त करनेवाले चरमशरीरी हैं और हाथी का जीव भी निकट भव्य है। रत्नत्रयरूपी वीतरागी जिनधर्म ही मोक्षप्राप्ति कराने में समर्थ है, इसलिये भव्य-जीव उसकी आराधना करो!

श्री देशभूषण केवली के मुख से मोहांधकार को नष्ट करनेवाले और संसार सागर से तारनेवाले ऐसे महापवित्र वचन सुनकर तथा भरत और हाथी के पूर्व भव सुनकर श्री राम-लक्ष्मण आदि समस्त भव्य जीव आश्चर्यचकित रह गये... सारी सभा स्तब्ध हो गई।

जिन्हें अविनाशी मोक्षपद की साधना के लिये साधु होने की अभिलाषा है, तथा जिनका चित्त गुरुओं के चरण में विनय से नम्रीभूत है, ऐसे श्री भरत अत्यन्त वैराग्यपूर्वक खड़े हुये और केवली प्रभु को नमस्कार करके कहने लगे कि—

''हे नाथ! मैं इस संसारवन में भ्रमण करता हुआ बहुत दुःखी हुआ हूँ; इस संसार भ्रमण से मैं थक गया हूँ... हे प्रभो! मुझे मुक्ति के कारणभूत अपनी दिगम्बर जिनदीक्षा दीजिये। आशारूपी

तरंगों से भरी हुई चारगतिरूपी नदी में मैं डूब रहा हूँ; उसमें से हे स्वामी! हस्तावलम्बन देकर मुझे उबारिये...'' ऐसा कहकर, केवली भगवान की आज्ञानुसार जिन्होंने समस्त परिग्रह छोड़ दिया है—ऐसे उन परम सम्यक्त्वी भरतराज ने अपने कोमल हाथ द्वारा केशलोंच किया और महाव्रत अंगीकार करके जिनदीक्षा ग्रहण की। अहा! भरत के दीक्षा-प्रसंग पर देवगण आकाश से ''धन्य.. धन्य'' कहते हुए पुष्पवृष्टि करने लगे। एक हजार से भी अधिक राजा भरत के प्रति अनुराग के कारण विरक्त होकर राजऋद्धि छोड़कर भरत के साथ ही जिनदीक्षा धारण करके मुनि हो गये और कुछ अणुव्रत धारी श्रावक हुए।

माता कैकेयी अपने पुत्र का वैराग्य और दीक्षा देखकर अश्रुपात करती हुई तीव्र मोह के कारण मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी। होश में आने पर इसप्रकार विलाप करने लगी कि—हाय पुत्र! तेरे बिना अब मैं कैसे जिऊँगी? बिलखती हुई माता को धैर्य बँधाते हुए राम-लक्ष्मण ने कहा कि—हे माता! भरत तो पहले से ही महाविवेकी, ज्ञानवान तथा संसार से अत्यन्त विरक्त था; उसका शोक छोड़ो। क्या हम आपके पुत्र नहीं हैं? हम तो आपके आज्ञाकारी सेवक हैं। कौशल्य-सुमित्रा तथा सुप्रभा ने भी कैकेयी को खूब समझाया। कैकेयी शेकरहित होकर प्रतिबोध को प्राप्त हुई और शुद्ध मन द्वारा अपने मोह की निन्दा करने लगी कि—''अरे! धिक्कार है इस स्त्रीपर्याय को, अब तो जिनदीक्षा धारण करके ऐसा उपाय करूँगी जिससे पुनः स्त्रीपर्याय धारण न करना पड़े और इस भव-सागर से पार हो जाऊँ। ऐसा सोचकर वह महा ज्ञानवान तथा जिनशासन की भक्त कैकेयी महावैराग्य से पृथ्वीमति आर्यिका के पास आर्यिका बन गई। निर्मल सम्यक्त्व के धारण करनेवाली कैकेयी ने समस्त परिग्रह छोड़कर मात्र एक श्वेतवस्त्र धारण किया और उसके साथ तीन सौ स्त्रियाँ आर्यिका हुईं। अन्य अनेक जीवों ने श्री देशभूषण-कुलभूषण केवली भगवान के निकट श्रावक-श्राविका के व्रत धारण किये।

—इधर त्रिलोकमण्डन हाथी ने भी अति प्रशांतचित्त होकर केवली प्रभु के निकट श्रावक के व्रत धारण किये। सम्यग्दर्शन युक्त एवं महाज्ञानी ऐसा वह हाथी, धर्म में तत्पर हुआ; वैराग्यपूर्वक पन्द्रह-पन्द्रह दिन के या एक-एक महीने के उपवास करके सूखे पत्तों से पारणा करने लगा। संसार से भयभीत तथा उत्तम चेष्टा में परायण-सा वह त्रिलोकमण्डन हाथी लोगों द्वारा पूज्य ऐसी महा विशुद्धि को धारण करता हुआ वन-जंगलों में विचरने लगा। कभी पन्द्रह दिन के तो कभी एक महीने के उपवास करके जब वह नगर में आता था, तब श्रावक लोग उसे शुद्ध अन्न-जल

द्वारा भक्तिपूर्वक पारणा कराते थे। जिसका शरीर क्षीण हो गया है और जो वैराग्यरूपी खीले से बँधा है—ऐसा वह हाथी उग्र तप करता था। धीरे-धीरे आहार त्यागकर अंतसल्लेखनापूर्वक शरीर को छोड़कर वह छठवें स्वर्ग में देव हुआ। पहले छठवें स्वर्ग से आया था और फिर छठवें स्वर्ग में गया; वहाँ से परम्परा मोक्ष प्राप्त करेगा।

इधर परम वैरागी महामुनि भरत जगत के गुरु, निर्ग्रन्थ, महाधीर, पवन की भाँति असंग, पृथ्वी जैसे क्षमावंत, जल के समान निर्मल, कर्मों को अग्नि के समान भस्म करनेवाले आकाश की भाँति निर्लिप्त, चार आराधना में उद्यमी, स्नेहबंधन से रहित, सिंह समान निर्भय, समुद्र की भाँति गम्भीर, मेरु जैसे निश्चल, यथाजात दिगम्बररूप के धारक, शत्रु या मित्र, महल या जंगल, सुख या दु:ख, रत्न या रजकण—यह सभी जिसे समान हैं ऐसे वीतरागी—वे शास्त्रोक्त मुनिमार्ग में विचर रहे हैं। तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हुई हैं किन्तु उनका चित्त तो चैतन्य की केवलज्ञान ऋद्धि प्राप्त करने में लगा है; कोमल चरणों में सुई जैसे काँटे चुभ जाते हैं किन्तु उस ओर कोई लक्ष नहीं है। ऐसे भरत मुनिराज ने शुक्लध्यान की श्रेणी द्वारा मोह का नाश करके लोकालोक प्रकाशक ऐसा केवलज्ञान प्रगट किया और फिर अघाति कर्मों को भी नष्ट करके सिद्ध पद को प्राप्त हुए।—उन्हें हमारा अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार हो!

कैकेयी-पुत्र वैरागी भरत का यह पवित्र चरित्र जो भक्तिपूर्वक पढ़ेगा—सुनेगा उसे वैराग्यादि की वृद्धि होकर आत्महित की प्राप्ति होगी।

भवभ्रमण से छूटने का उपाय

[मगसिर कृष्णा १ के दिन पाटणा ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

यह आत्मधर्म की बात है। विषय अन्तर का कुछ सूक्ष्म है; किंतु इस काल में यह जो दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ है, उसमें समझने योग्य है। यह आत्मा अनंतानंत काल से अज्ञान के कारण भवचक्र में भ्रमण कर रहा है। अब ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त करके भी यदि भवचक्र का चक्कर कम न हुआ-तो हे जीव! तूने मनुष्य भव पाकर क्या किया? श्रीमद् राजचन्द्रजी मात्र सोलह वर्ष की उम्र में कहते हैं कि—

''बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभदेह मानवनो मल्यो,
तोये अरे! भवचक्र नो आँटो नहीं अेके टल्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश अे लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो! राची रहो?''

भाई! अपने आत्मा को भूलकर बाह्य में कहीं रंचमात्र भी सुख मानने से तेरा वास्तविक सुख टल जाता है। वास्तविक सुख तेरे आत्मा में है; किन्तु आत्मा के भान बिना तू प्रतिक्षण संसार में भावमरण कर रहा है। वह भावमरण कैसे दूर हो—उसका विचार कर।

श्रीमद् राजचन्द्र जब सात-आठ वर्ष के बालक थे, उस समय बवाणिया ग्राम में एक आदमी की सर्प के डसने से मृत्यु हुई और लोग उसे जलाने के लिये श्मशान में ले गये। वह दृश्य देखकर श्रीमद् राजचन्द्र के अन्तर में विचार उठता है कि यह लोग क्या करते हैं? किसलिये इसे जला रहे हैं?—ऐसा विचार करते-करते उन्हें पूर्वभव का ज्ञान (जातिस्मरणज्ञान) हुआ। वे सोलह वर्ष की उम्र में कहते हैं कि—

''लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुम्ब के परिवारथी वधवापणुं अे नय ग्रहो?
वधवापणुँ संसारनुं नरदेहने हारी जवो,
अेनो विचार नहीं अहो हो! अेक पल तमने हवो।''

अरे जीवों! क्षणभर विचार तो करो कि—इस लक्ष्मी या कुटुम्ब के बढ़ने से आत्मा में क्या बढ़ा? उन्हें बढ़ाने की तृष्णा में तो जीव इस मनुष्य अवतार को हार जाते हैं, इसलिये ऐसा विचार

करो कि मेरा हित काहे में है ? इस देह या लक्ष्मी आदि का संयोग तो क्षणिक है, वह तो क्षण में क्षय हो जायेगा। तो इन शरीरादि से भिन्न मैं कौन हूँ ?—ऐसा देह से भिन्न आत्मा का भान करना, सो धर्म है और वही भव से छूटने का उपाय है।

इस समय इस पद्मनन्दि शास्त्र का दूसरा श्लोक पढ़ा जा रहा है; 'पद्मनन्दि' नाम के मुनिराज ने एक हजार वर्ष पहले इसकी रचना की थी। जो वन-जंगल में रहते थे और आत्मा के आनन्द की खोज करके उसके वेदन में जीवन बिताते थे—ऐसे मुनिराज कहते हैं कि—

खादिपंचकनिर्मुक्तं कर्माष्टक विवर्जितम्।
चिदात्मकं परंज्योतिः वन्दे देवेन्द्रपूजितम्॥२॥

आकाशादि पाँच जड़ द्रव्यों से जो भिन्न हैं तथा अष्ट कर्मों से रहित हैं और देवेन्द्रों से पूज्य हैं—ऐसी चैतन्यस्वरूप परमज्योति को हमारा नमस्कार हो! वह उत्कृष्ट चैतन्य-ज्योति भव दुःखों से हमारी रक्षा करो!

आत्मा का स्वरूप ही परम चैतन्यज्योति है, उसी के सन्मुख हमारी एकाग्रता बनी रहे और बाह्य में हमारी वृत्ति न जाये—ऐसी भावनापूर्वक यहाँ चैतन्यज्योति को नमस्कार किया है।

संत कहते हैं कि अहो! हमें अपना चैतन्यपद ही परमप्रिय है। चैतन्यस्वरूप के आनन्द की कहानी सुनने के लिये स्वर्ग के देव भी तरसते हैं। यह मनुष्य अवतार प्राप्त करके चैतन्यस्वरूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। चैतन्यस्वरूप की समझ ही अनंत जन्म-मरण के दुःखों से रक्षा करनेवाली है-इसके अतिरिक्त अन्य कोई रक्षक नहीं है। एक चींटी भी अपने शरीर की पुष्टि के हेतु जीवन बिताती है और मनुष्य होकर भी जो शरीर के हेतु जीवन बिताते हैं तथा आत्मा की परवाह नहीं करते—तो उनके और चींटी के जीवन में क्या अन्तर हुआ ?

अभी कुछ ही देर पहले एक तन्दुरुस्त बैल को यहाँ पानी पिलाने के लिये लाये थे... बैल पानी पी रहा था। तीन-चार डोल पानी पिया... पानी पीता जाये और सिर उठाता जाये.. क्या उसे खबर है कि 'मैं इस बैल के शरीर से भिन्न आत्मा हूँ ?' वह तो यही समझता है कि मैं बैल का शरीर ही हूँ, मुझे प्यास लगी है और मैं पानी पी रहा हूँ।—किन्तु देह से भिन्न आत्मा का उसे कोई विचार नहीं। उसी प्रकार जो जीव ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त करके भी देह से भिन्न आत्मा का विचार नहीं करते, वे भी पशु जैसे हैं....

अरे भाई! ऐसा मनुष्यभव मिला है; उसमें आत्मा के स्वरूप का भी तो विचार करो कि—

''हुं कोण छुँ... क्यांथी थयो... शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?''

अरे जीव! दूसरे सब कार्य करने का तो तुझे समय मिलता है और उन्हें रुचिपूर्वक करता है, तो हे भाई! एकबार आत्मा का कल्याण करने के लिये-उसका विचार करने के लिये भी अवकाश ले... और उसकी रुचि कर! ऐसा मनुष्य अवतार बारम्बार नहीं मिल सकता... यह मनुष्य अवतार देवों को भी दुर्लभ है। देव भी मनुष्य अवतार के लिये तरसते हैं कि—'हम कब मनुष्य अवतार पाकर मुक्ति प्राप्त करेंगे और इस भवचक्र से आत्मा को छुड़ायेंगे।'—इसप्रकार देवों को भी प्रिय ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त करनेवाले! तेरा ज्ञानानन्दस्वरूप देह से भिन्न है; उसका तो विचार कर! आत्मा को पहिचाने बिना इस भवचक्र से निकलने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

जैसे—चना भून जाने के बाद उगता नहीं है और स्वाद मीठा हो जाता है; उसी प्रकार जिसने अपने आत्मा का सम्यक् भान किया है, वह जीव पुनः पुनः इस भवभ्रमण में नहीं पड़ता और उसे आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है।

जिस प्रकार अफीम में कड़वाहट है, मिसरी में मिठास है, उसी प्रकार आत्मा में आनन्द है; आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप आत्मा की बात सुनने का भी जीवों को अवकाश नहीं मिलता! अरे, जिस बात को सुनने के लिये इन्द्र और देव भी स्वर्ग से धरती पर आते हैं, वही बात सुनने का अवकाश यहाँ के जीवों को नहीं मिलता। आत्मा के हित की परवाह नहीं करते और सांसारिक धन्धों में जीवन गँवा देते हैं। सत् समझने के समय जो उसकी परवाह नहीं करते और मांस-मदिरा तथा परस्त्री सेवन आदि महापाप करते हैं, वे यहाँ से मरकर नरक में जाते हैं। नरक में तीव्र वेदना होती है। वहाँ भी किसी-किसी जीव को ऐसा विचार आता है कि अरे रे! पूर्वकाल में आत्मा की परवाह नहीं की और महापापों में जीवन बिताया, संत ज्ञानी तो मुझसे कहते थे कि "तू देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप है—उसकी पहिचान कर!"—किन्तु उस समय मैंने उस बात की दरकार नहीं की।—ऐसा विचार करते-करते पूर्वकाल में आत्मा का जो स्वरूप सुना था, उसे लक्ष में लेकर उसकी पहिचान करते हैं। श्रेणिक राजा इस समय नरक में हैं किन्तु उन्हें वहाँ भी आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप का भान है.. और वहाँ से निकल कर वे तीर्थंकर होंगे।

भाई! सत्समागम द्वारा शांतिपूर्वक श्रवण-मनन करके आत्मा का भान करने योग्य है। जिसने आत्मा का भान नहीं किया, उसने कुछ नहीं किया। भले ही व्रत-तप या दया-दानादि करे, तथापि उसने आत्महित के लिये कुछ नहीं किया है। आत्मा के भान बिना एक भी भव कम नहीं होता। पूर्व अनंतकाल में अन्य सब कुछ किया, पुण्य करके अनंतबार स्वर्ग का देव भी हुआ किन्तु एक क्षण भी आत्म-प्रतीति नहीं की, इसलिये संसार में ही भटकता रहा। अब मनुष्य भव प्राप्त करके आत्मा को समझ लेना आवश्यक है।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[४१]

कर्मशक्ति

गतांक नं० १६५ से आगे

'कर्मशक्ति' कहने से यह जड़ कर्मों की शक्ति की बात नहीं है; किन्तु अपने सम्यग्दर्शनादि कर्मरूप (कार्यरूप से) स्वयं परिणमित हो—ऐसी आत्मा की कर्मशक्ति है; उस शक्ति का यह वर्णन है। पूज्य गुरुदेव का यह प्रवचन मुमुक्षुओं के लिये माननीय है।

क्रियाशक्ति में आत्मा के स्वाभाविक छह कारक बतलाये; अब छह शक्तियों में उन स्वाभाविक छहों कारकों का पृथक्-पृथक् वर्णन करके आचार्यदेव अधिक स्पष्ट करते हैं।

'प्राप्त होता हुआ ऐसा जो सिद्धरूप-भाव उस-मयी कर्मशक्ति है।'

व्याकरण में छह कारक और एक सम्बन्ध—ऐसी सात विभिक्तियाँ आती हैं; उन सातों विभक्तियों का यहाँ सात शक्तियोंरूप से वर्णन करके आत्मा का एकत्व-विभक्त स्वरूप बतलाया है। परमार्थ विभक्ति उसे कहा जाता है जो आत्मा को पर से विभक्त करे। स्व में एकत्व और पर से विभक्त—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारक और एक सम्बन्ध, यह सातों विभक्तियाँ आत्मा को पर से विभक्त-पृथक् बतलाती है। अन्तिम सम्बन्ध शक्ति कहेंगे; वह सम्बन्ध शक्ति भी कहीं आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किन्तु अपने में ही स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलाकर पर के साथ का सम्बन्ध छुड़वाती है; इसप्रकार पर से भिन्न आत्मा को बतलाती है। ऐसे विभक्त आत्मा को जाने बिना 'इस शब्द की यह विभक्ति और अमुक शब्द की अमुक विभक्ति'—ऐसी व्याकरण पढ़ जाये तो उसके कहीं कल्याण नहीं होता। जिसने सर्व

से विभक्त आत्मा को जाना, उसने सब विभक्तियाँ जान लीं। आत्मा का पर के साथ कर्ता-कर्मपना माने, पर को साधन माने या आधार माने, उसने आत्मा की विभक्ति को (-पर से भिन्नता को) नहीं जाना।

प्राप्त होता हुआ ऐसा जो सिद्धरूप भाव अर्थात् निश्चित हुआ भाव, सिद्ध हुआ भाव, प्रगटा हुआ भाव, वह आत्मा का कर्म है और उस कर्मरूप आत्मा स्वयं होता है—ऐसी उसकी कर्मशक्ति है। यहाँ प्रथम कर्म अर्थात् कार्य बतलाकर, फिर उसके कर्ता-करण आदि बतलायेंगे। वर्णन में तो क्रम से कथन आता है; वस्तु में कहीं छह कारक क्रमशः नहीं हैं, वस्तु में तो एक साथ ही छहों कारकरूप परिणमन है।

अनंत स्वभाव के पिण्ड आत्मा पर दृष्टि करने से उस-उस समय की निश्चित निर्मल पर्याय कार्यरूप से प्राप्त होती है, वह आत्मा का कर्म है। 'कर्म' कहने से यहाँ जड़ कर्म की अथवा रागादि भावकर्म की बात नहीं है, किन्तु चैतन्यस्वभाव में से जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायरूप कार्य प्राप्त किया जाये, उसकी बात है। शुद्ध द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन लेने से प्रतिक्षण नया-नया निर्मलभाव प्राप्त होता है; वह प्राप्त होनेवाला भाव सिद्धरूप है अर्थात् प्रसिद्ध हो चुका है—प्रगट हो गया है। वस्तु में शक्तिरूप से तो अनादि से था, किन्तु अब वह भाव प्रसिद्ध हुआ—पर्याय में व्यक्त हुआ। इसलिये उसे सिद्धरूपभाव कहा है। 'सिद्धरूप भाव' में अकेली सिद्धदशा नहीं लेना चाहिये किन्तु सम्यग्दर्शनादि समस्त निर्मल पर्यायें सिद्धरूप भाव में आ जाती हैं। वह प्राप्त होता हुआ सिद्धरूप भाव, सो कर्म है; आत्मा अपनी शक्ति से उसरूप होता है—ऐसी उसकी कर्मशक्ति है। यह शक्ति आत्मा में त्रिकाल है; किन्तु उसका भान होने पर निर्मलपर्यायरूप कार्य की (-कर्म की) प्राप्ति नई होती है; पहले निमित्ताधीन बाह्य दृष्टि के समय निर्मलभाव की प्राप्ति नहीं थी और शक्ति का भी भान नहीं था; अब स्वभावशक्ति का भान होने पर, उसके आश्रय के सम्यग्दर्शनादि निर्मल भाव को कर्मरूप से प्राप्त किया। द्रव्य की शक्ति में तो वह भाव अनादि से सिद्ध हुआ था किन्तु पर्याय में उसकी प्राप्ति नई हुई... पर्याय में कर्मरूप से व्यक्त होने पर उसे सिद्धरूप भाव कहा। उस-उस समय की सिद्धरूप निर्मलपर्यायरूप होने की शक्ति द्रव्य में विद्यमान है, उस द्रव्य स्वभाव के

आश्रय से आत्मा निर्मल कर्मरूप ही परिणमित होता है—विकारी कर्मरूप से परिणमित नहीं होता, ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। द्रव्यदृष्टि द्वारा ही ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने पर उसकी सन्मुखता से अनंतगुण अपने-अपने निर्मल कार्यरूप परिणमित हो जाते हैं। जो निर्मलकार्य करना है, उस कार्यरूप होने की शक्तिअपने में त्रिकाल है। कर्मशक्ति से आत्मा स्वयं निर्मल-निर्मल भावरूप से प्राप्त होता है,—निर्मल भावरूप कर्मरूप से स्वयं ही परिणमित होता है।

भाई! तेरा कर्म तुझसे भिन्न नहीं है; उस-उस समय के निर्मल कर्म के साथ आत्मा स्वयं तन्मय होकर परिणमन करे, अर्थात् आत्मा स्वयं अपने कर्मरूप हो—ऐसी उसकी कर्मशक्ति है; इसलिये तेरा कार्य दूसरा कोई दे देगा—ऐसा नहीं है। अपनी स्वभावशक्ति को संभालने पर तू स्वयं ही तन्मयरूप से अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यरूप परिणमित हो जायेगा ऐसी तेरी कर्मशक्ति है।

देखो, यह आत्मा का कर्म! अज्ञानी करम-करम करते हैं किन्तु यहाँ जड़ कर्म से भिन्न आत्मा का कार्य बतलाते हैं। जड़ कर्म में ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा का कुछ करे। आत्मा में ऐसी कर्मशक्ति है कि वह अपने सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक के भावों को प्राप्त करके तन्मयरूप से परिणमित होता है, अर्थात् अपने कर्मरूप स्वयं ही होता है। जो जीव, आत्मा की ऐसी कर्मशक्ति को प्रतीति करे, उसे जड़कर्म से सम्बन्ध का अभाव हुए बिना न रहे।

कर्म सम्बन्ध में चार प्रकार हैं:—

(१) जड़रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म।

(२) राग-द्वेष-मोहादि विकाररूप भावकर्म।

(३) सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायरूप कर्म।

(४) आत्मा के त्रिकाल स्वभावरूप कर्मशक्ति।

(१) द्रव्यकर्म, वह पर है, (२) भावकर्म, वह विभाव है, (३) निर्मलपर्यायरूप कर्म, वह क्षणिक स्वभाव है और (४) कर्मशक्ति, वह त्रिकाल शुद्ध स्वभाव से है। उस त्रिकाली स्वभाव के आधार से वर्तमान निर्मलपर्यायरूप कर्म प्रगट होता है और भावकर्म तथा द्रव्यकर्म छूट जाते हैं।

सम्यग्दर्शनादि धर्मरूप निर्मल कर्म नहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु आत्मा में ही उसरूप

होने की शक्ति है; आत्मा के स्वभाव का अवलम्बन करने से आत्मा स्वयं ही वैसे निर्मल कार्यरूप से प्रसिद्ध होता है। देखो, यह आत्मा की कार्यशक्ति! आत्मा की कार्यशक्ति ऐसी नहीं है कि जड़ का कुछ करे; विकार करे, वह भी वास्तव में आत्मा की शक्ति का कार्य नहीं है; किन्तु शुद्ध ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि भाव आत्मा का सच्चा कर्म है।

शरीर-कर्म-भाषा आदि परमाणु की अवस्था है, वह परमाणु का कार्य है, क्योंकि वह उनमें तन्मय है।

राग-द्वेष-पुण्य-पापादि विकारी भावरूप अवस्था, वह मिथ्यादृष्टि का कार्य है, क्योंकि वह उनमें तन्मय है।

सम्यक्त्वी तो अपने सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दरूप भावों में तन्मय होता है और वही आत्मा का वास्तविक कार्य है; तथा वही आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है। आत्मा द्वारा कर्मरूप से प्राप्त किया जानेवाला ऐसा जो सिद्धरूप साधकभाव (-उस उस समय प्रसिद्ध हुआ साधकभाव), वही धर्मात्मा का कर्म है; उसके द्वारा आत्मा की कर्मशक्ति पहिचानी जाती है। राग वास्तव में आत्मा का स्वाभाविक कर्म नहीं है; इसलिये उसके द्वारा कर्मशक्तिवाले आत्मा की पहिचान नहीं होती।

क्या आठ जड़कर्म, वह आत्मा का कर्म है?—नहीं!

क्या रागादि भावकर्म, वह आत्मा का कर्म है?—नहीं। वे रागादि भाव, आत्मा की पर्याय में होते हैं, तथापि आत्मा का स्वभाव उनमें तन्मय होकर परिणमित नहीं होता; इसलिये स्वभावदृष्टि में वह आत्मा का कर्म नहीं है।

—तो आत्मा का सच्चा कर्म क्या?—आत्मा स्वयं तन्मय होकर जिसे प्राप्त करे, वह आत्मा का सच्चा कर्म है। अपनी निर्मलपर्यायों में तन्मय होकर आत्मा उन्हें प्राप्त करता है—उन-उन पर्यायों तक पहुँच जाता है—इसलिये वे निर्मलपर्यायें ही आत्मा का कर्म है और वही धर्म है।

भाई! पर के कार्य तेरे आत्मा में नहीं है; और राग-द्वेष-मोह के कार्य भी तेरे स्वभाव में नहीं हैं; किन्तु अपनी शक्ति में से निर्मलपर्याय को प्राप्त करे, वही तेरा कार्य है। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक के पद प्राप्त करने की शक्ति तेरे आत्मा में है और वही तेरे कार्य हैं; इसके सिवा

बाह्य में महान राजपद या इन्द्रपद आदि की प्राप्ति हो, वह कहीं तेरे आत्मा का कार्य नहीं है। धर्मात्मा जानता है कि मैं तो अपने ज्ञान-आनन्द स्वभावमय हूँ और उसमें से प्राप्त होनेवाली अवस्था ही मेरा कार्य है; इसके अतिरिक्त रागादि विकार भी मेरा कार्य नहीं है तो फिर उस विकार के फलरूप बाह्य संयोगों में तो मेरा कार्य कैसे होगा ? मेरे स्वभाव में से सिद्धपद प्रगट हो, वही मेरा प्रिय कार्य है। 'कर्ता का इष्ट, सो कर्म;' धर्मी कर्ता का इष्ट तो उसकी अपनी निर्मल परिणति ही है; रागादि, वह धर्मी का इष्ट नहीं है; इसलिये वह उसका कर्म नहीं है। श्रद्धा में परमशुद्ध ऐसे चिदानन्दस्वभाव को ही इष्ट करके उसमें से सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशा प्राप्त करके सिद्धपद की ओर कदम बढ़ाये हैं, वही धर्मात्मा का इष्ट कार्य है।

देखो, यह सिद्धपद का मार्ग... यह मोक्ष का पंथ ! आत्मा के स्वभाव को इष्ट-प्रिय करके उसके आश्रय से निर्मलपर्यायरूप कार्य करना, वह सिद्धपद का मार्ग है। अहो ! ऐसे आत्मा को तो इष्ट न करे और अन्य कार्यों को इष्ट माने, वह तो सत् के मार्ग पर भी नहीं आया है; तो फिर उसे सत् के फलरूप मोक्ष की प्राप्ति कहाँ से होगी ? रागादि होने पर भी जिसने अन्तर्मुख होकर अपने चिदानन्दस्वभाव को ही इष्ट किया है, वह तो सत् के मार्ग पर लगा हुआ साधक है और वह सत् के फलरूप सिद्धपद को अल्पकाल में अवश्य प्राप्त करेगा।

अहो ! अपना सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य मुझे बाहर से नहीं लाना पड़ेगा; मेरे आत्मा में ही ऐसी शक्ति है कि मैं स्वयं उस कार्यरूप परिणमित हो जाऊँ।—ऐसा स्वशक्ति का निर्णय किया वहाँ निजकार्य के लिये बाह्य साधनों की चिन्ता नहीं रहती। इसप्रकार निश्चिंत पुरुषों द्वारा इस आत्मा की साधना होती है; क्योंकि आत्मा को साधने के लिये कोई बाह्य साधन है ही नहीं; अंतर में आत्मा स्वयं ही सर्व साधन-सम्पन्न है; इसलिये बाह्य साधनों की चिन्ता व्यर्थ है। स्वयं अपने स्वभाव के चिंतन से ही यह आत्मा सधता है, बाह्य की चिन्ता द्वारा नहीं सधता; इसलिये निश्चिंत पुरुषों द्वारा ही आत्मा सधता है। निमित्तादि बाह्य साधनों की चिन्ता छोड़कर अन्तर्मुख होकर आत्मस्वभाव में एकाग्र होने पर, आत्मा स्वयं अपने को साधता है। जिनके चिंतन में अकेले ज्ञानानन्द मूर्ति आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है—ऐसे निश्चिंत पुरुषों द्वारा ही भगवान

आत्मा साध्य है, वे ही उसका अनुभवन करते हैं। अपनी कर्मशक्ति से ही आत्मा अपने कार्य को साधता है,—प्राप्त करता है।

आत्मा में कर्मशक्ति त्रिकाल है, इसलिये वह कर्म रहित (अर्थात् अपने कार्य रहित) कभी नहीं होता। आत्मा जड़कर्म रहित त्रिकाल है, किन्तु अपने भावरूप कर्म रहित वह कभी नहीं होता। हाँ, अज्ञानदशा में वह विपरीत (रागद्वेष मोहादि) कर्मरूप से परिणमित होता है और स्वभाव का भान होने पर, सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्यरूप से परिणमित होता है। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि जिन्हें अपनी स्वभावशक्ति का भान हुआ है—ऐसे साधक तो स्वभाव के आलम्बन से निर्मल कर्मरूप ही परिणमित होते हैं; मलिन कार्यों को वे अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे मलिन भाव, स्वभाव के आधार से नहीं हुए हैं और न स्वभाव के साथ उसकी एकता है। शुद्ध स्वभाव के आधार से तो निर्मल कार्य ही होता है और उसी को वास्तव में आत्मा का कार्य स्वीकार किया जाता है।

देखो, विकार कैसे दूर होता है, वह बात भी इसमें आ जाती है। 'मैं विकार को दूर करूँ'—इसप्रकार विकार दूर करने की चिंता से वह दूर नहीं होता; विकार की ओर देखकर इच्छा करे कि—मुझे यह विकार दूर करना है—तो वह इच्छा स्वयं भी विकार है, उस इच्छा से कहीं विकार दूर नहीं हो जाता। किन्तु शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव परमपारिणामिकभाव से सदैव विकार रहित ही है; उस स्वभाव की ओर उन्मुख होकर, जहाँ उसके साथ एकता की, वहाँ पर्याय स्वयं निर्विकाररूप से परिणमित हुई और विकार छूट गया। गुणी के साथ एकता करने से गुण का निर्मल कार्य प्रगट होता है और विकार टलता है।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पंचम-पारिणामिक—यह पाँच जीव के असाधारण भाव हैं। द्रव्य-गुण त्रिकाल पारिणामिकभाव से शुद्ध है, उनमें कभी विकार नहीं है, उनका आश्रय करने से औपशमिक, क्षायिकादि निर्मलभाव प्रगट हो जाते हैं। औदयिकभाव पर के आश्रय से होता है, किन्तु अंतर्मुख स्वभाव के आश्रय से उसकी उत्पत्ति नहीं है; इसलिये वह आत्मा के स्वभाव का कार्य नहीं है। आत्मा की समस्त शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं, उसे पर की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार आत्मा में शुद्ध आनन्द –

स्वभाव तथा ज्ञानस्वभाव पारिणामिकभाव से त्रिकाल स्वत:सिद्ध है; उसी प्रकार कर्तास्वभाव-कर्मस्वभाव-करणस्वभाव-प्रभुतास्वभाव आदि भी परमपारिणामिकभाव से त्रिकाल स्वत:सिद्ध है; अंतर्मुख होकर उनका भान करते ही उनके आधार से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है। परमपारिणामिकभाव के आश्रय से जो कार्य प्रगट हुआ, वह भी एक अपेक्षा से तो (-पर की अपेक्षा न लें तो) पारिणामिकभावरूप ही है, और कर्म के क्षय आदि की अपेक्षा लेकर उसे क्षायिक आदि कहा जाता है।

परमपारिणामिकभावस्वरूप आत्मा 'कारणशुद्ध जीव' है, उसमें अनंत शक्तियाँ हैं, उसका यह वर्णन है। आत्मा की समस्त शक्तियाँ ऐसे स्वभाववाली हैं कि उनके आश्रय से निर्मलता ही प्रगट होती है; एक भी शक्ति ऐसे स्वभाववाली नहीं है कि जिसके आश्रय से विकार हो। यदि स्वभाव के आधार से विकार होता हो तो वह दूर कैसे होगा? स्वभाव के आधार से यदि विकार होता हो, तब तो विकार स्वयं ही स्वभाव हो गया, इसलिये वह दूर हो-ही नहीं सकेगा; परन्तु स्वभाव का आश्रय करने से तो विकार दूर हो जाता है; इसलिये विकार को उत्पन्न करे—ऐसा कोई स्वभाव आत्मा में है ही नहीं। इसप्रकार अंतर में स्वभाव और विकार की भिन्नता का निर्णय करके, स्वभावोन्मुख होने से विकार दूर हो जाता है और निर्मलता प्रगट होती है। उसका नाम धर्म है।

जिस प्रकार आम के वृक्ष में तो आम्रफल उत्पन्न होने का ही स्वभाव है, आम के वृक्ष में कहीं निम्बोली उत्पन्न नहीं होती; उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्य आम्र है, इसमें रागादि विकार उत्पन्न होने का स्वभाव नहीं है; इसके आधार से तो निर्मलता ही उत्पन्न हो—ऐसा स्वभाव है। यदि चैतन्य में सिद्धपद की शक्ति न हो तो सिद्धदशा उत्पन्न कहाँ से होगी? आम की गुठली में आम होने के बीज पड़े हैं, उसमें से आम की उत्पत्ति होती है, कहीं नीम या बेरी में आम उत्पन्न नहीं होते। उसी प्रकार चैतन्य में ही केवलज्ञान और सिद्धपद की शक्ति विद्यमान है, उसी में से वह प्रगट हाता है, शरीर में से या राग में से प्रगट नहीं होता। आत्मा में परमपारिणामिकभाव से त्रिकाल प्रभुता है, उसके आश्रय से प्रभुता हो जाती है। आत्मा की शक्तियाँ ऐसी स्वतंत्र हैं कि अपनी प्रभुतारूप कार्य के लिये उसे किसी अन्य का सहारा नहीं लेना पड़ता। ऐसे आत्मस्वभाव को जाने तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य प्रगट हो।

आत्मा का स्वभाव निर्मल है और उस स्वभाव के आश्रय से निर्मल भाव को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे—ऐसी आत्मा की त्रिकाल शक्ति है। शरीर-मन-वाणी आदि पर को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे—ऐसी शक्ति आत्मा में तीनकाल में नहीं है; और पुण्य-पापरूप विकार भावों को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे—ऐसा भी आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है; निर्मल स्वभावभाव को प्राप्त करे—ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। अज्ञानी एक समय के विकार को अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है, वह उसकी पर्याय की योग्यता है, किन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में तो विकार को प्राप्त करने की योग्यता नहीं है; यदि द्रव्यस्वभाव में ही विकार को प्राप्त करने की योग्यता हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकती। आत्मा का शुद्ध स्वभाव तो निर्मल भाव को ही कर्मरूप से प्राप्त करना है, इसलिये उस स्वभाव के आश्रय से निर्मल भाव प्राप्त करके अनंत जीव, विकाररहित सिद्ध परमात्मा हो गये हैं और उसी प्रकार सदैव अन्य जीव भी सिद्ध होते ही रहेंगे।—यह सिद्धि का पंथ है।

अपने शुद्ध स्वभाव को भूलकर अज्ञानी पराश्रयबुद्धि से मिथ्यात्व-रागादि को अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है, वह संसार है; और ज्ञानी, शक्ति के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन को अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है, वह सिद्धि का मार्ग है।

प्रश्नः—पहले समय में सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य नहीं है तो दूसरे समय में वह कहाँ से प्राप्त होगा?

उत्तरः—पहले समय में न हो और दूसरे समय में निर्मल कार्यरूप से आत्मा स्वयं परिणमित हो जाये—स्वयं अपने में से ही निर्मल कार्य को प्राप्त करे—ऐसी उसकी कर्मशक्ति नित्य है। स्वभाव का आश्रय करने से वर्तमान में जो निर्मलभाव वर्तता है, वह उस समय का सिद्ध हुआ भाव है; पहले-बाद के भाव की या पर की उसे अपेक्षा नहीं है।

जिसमें से निर्मलता की प्राप्ति हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है, किन्तु विकार की प्राप्ति हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। विकार कहीं आत्मा के स्वभाव में से प्राप्त नहीं होता, वह तो अधर से (-पराश्रय से) उत्पन्न हुई क्षणिक वृत्ति है, उसका तो नाश हो जाता है। परन्तु उसका नाश होने से कहीं आत्मा का नाश नहीं हो जायेगा। पुण्य की वृत्ति से आत्मा की शुद्धता प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु शुद्ध जीवतत्त्व नित्य स्थायी है, उसी के आधार से आत्मा की शुद्धता प्राप्त होती है

और वही आत्मा का कर्म है। ऐसे निर्मल कर्म को प्रगट करके उसके साथ एकता करे—ऐसा आत्मा का स्वभाव है; किन्तु शुभाशुभ विकारी वृत्तियों के साथ एकता करके उन्हें अपने कर्मरूप बनाये—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार निर्मल भाव को प्राप्त करने की द्रव्य की शक्ति कही; और तदनुसार द्रव्य के समस्त गुणों में भी ऐसा स्वभाव है कि स्वयं अपनी निर्मल पर्याय को कर्मरूप से प्राप्त करें और विकार को प्राप्त न करें।

जैसे कि—ज्ञानगुण का ऐसा स्वभाव है कि अपने सम्यग्ज्ञानरूप कार्य को कर्मरूप से प्राप्त करता है; किन्तु अज्ञान को, विकार को या जड़ को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे ऐसा ज्ञान शक्ति का स्वभाव नहीं है।

उसी प्रकार श्रद्धागुण में ऐसा स्वभाव है कि अपने स्वभाव की प्रतीतिरूप कार्य को (सम्यग्दर्शन को) अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है, किन्तु मिथ्यात्व को, विकार को या जड़ को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे—ऐसा श्रद्धाशक्ति का स्वभाव नहीं है।

उसी प्रकार आनन्दगुण में ऐसा स्वभाव है कि अपने अतीन्द्रिय-अनाकुल-आह्लाद के वेदन को अपने कार्यरूप से प्राप्त करता है, किन्तु आकुलता, दु:ख या इन्द्रिय-विषयों को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे—ऐसा आत्मा की आनन्दशक्ति का स्वभाव नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा के समस्त गुणों में समझ लेना चाहिये।

—आत्मा के ऐसे स्वभाव को लक्ष में लेकर जहाँ एकाग्र हुआ, वहाँ उस स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि का निर्मल कार्य वर्तता ही है—अर्थात् वह कार्य सिद्ध हुआ ही है; इसलिये 'मैं निर्मल कार्य प्राप्त करूँ'—ऐसी भी आकुलता बुद्धि (-भेद बुद्धि) वहाँ नहीं रहती, क्योंकि अपनी कर्मशक्ति से वह स्वयमेव निर्मल कार्यरूप हो ही गया है।

स्वयं कार्यरूप होने के आत्मा के ऐसे स्वभाव को जो पहिचान ले, वह किसी ईश्वर को या अन्य को अपने कार्य का कर्ता नहीं मानता; यह आत्मा किसी का कार्य है—ऐसा वह नहीं मानता; तथा इस आत्मा का कार्य अपने से भिन्न कहीं पर में होना नहीं मानता। इसप्रकार पर के साथ का सम्बन्ध टूटकर स्व में ही एकतारूप अभेद परिणमन होने से, वहाँ विकाररूप कार्य भी नहीं रहता; स्वभाव में अभेदरूप निर्मल भाव ही वहाँ वर्तता है।—ऐसे वर्तते हुए सिद्धरूप भाव को कार्यरूप

से प्राप्त करे—ऐसी आत्मा की कर्मशक्ति है। जिसने जड़ के कार्य को या विकार को-शुभ विकल्प को अपने कार्यरूप से माना, उसने आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना है; इसलिये उसे धर्मकार्य नहीं होता, अधर्म ही होता है। धर्मी-साधक को भी दया-भक्ति-पूजा-यात्रादि का शुभराग होता है, किंतु वे राग को अपने स्वभाव का प्राप्य नहीं मानते; उसे स्वभाव का कार्य नहीं मानते... उस समय स्वभाव में एकता से जितनी निर्मलता वर्तती है, उसी को वे अपने कार्यरूप से स्वीकार करते हैं, यही धर्मी का धर्म है।

निर्मलपर्यायरूप कर्मरूप होने की शक्ति आत्मा की है, इसलिये वह निर्मल कार्य प्रगट करने के लिये कहीं बाह्य में देखना नहीं रहता, किन्तु आत्मा में ही देखना रहता है; आत्मस्वभाव के अन्तर-अवलोकन से ही निर्मल कार्य की सिद्धि होती है, अन्य किसी प्रकार उसकी सिद्धि नहीं होती।

जड़ में या विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह निर्मलपर्याय को अपने कर्मरूप से उत्पन्न कर सके। निर्मलपर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह अन्य निर्मलपर्याय को अपने कर्मरूप से उत्पन्न कर सके। पूर्व पर्याय को कारण कहा जाता है, वह तो उपचार से है, सचमुच उसका तो अभाव हो जाता है; इसलिये वह अन्य पर्याय का कारण नहीं है, किन्तु पूर्व पर्याय में भी वर्तता हुआ अखण्ड द्रव्य ही स्वयं परिणमित होकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय को कर्मरूप से प्राप्त करता है-स्वयं ही अभेदरूप से उस कर्मरूप होता है; इसप्रकार निर्मल पर्यायरूप कर्म करने की शक्ति द्रव्य में ही है; द्रव्य में ही शुद्धता का भंडार भरा है; उसी के आश्रय से शुद्धता होती है। उसका आश्रय न करे और निमित्तादि का आश्रय करके शुद्धता होना माने तो वह जीव अपनी आत्मशक्ति को न माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। स्वभावशक्ति के आश्रय से ही निर्मलता होती है। अर्थात् निश्चय के आश्रय से ही धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से धर्म नहीं होता—ऐसा अनेकान्त नियम इसमें आ जाता है। आचार्य भगवान ने इन शक्तियों के वर्णन में अद्भुत रीति से जैनशासन के रहस्य की सिद्धि की है। पूर्व काल में अनंत तीर्थंकरों-गणधरों-संतों सम्यक्तियों ने ऐसा ही मार्ग जानकर उसका अनुसरण किया है और कहा है; वर्तमान में भी महाविदेहक्षेत्र में सीमंधरादि बीस तीर्थंकर

विराजमान हैं; वे तीर्थंकर तथा गणधर-संत आदि भी ऐसा ही मार्ग जानकर उसका अनुसरण कर रहे हैं और कह रहे हैं। भारतक्षेत्र में भी ऐसा ही मार्ग है और भविष्य में भी जो तीर्थंकर-संत होंगे, वे सब ऐसे ही मार्ग अनुसरण करेंगे और कहेंगे। अहो! एक ही सनातन मार्ग है; इस मार्ग का निश्चय करे, वहाँ मुक्ति की शंका नहीं रहती। इस मार्ग का निर्णय किया, वहाँ आत्मा ऐसी साक्षी देता है कि बस! अब हम अनंत तीर्थंकरों-संतों-ज्ञानियों के मार्ग में मिल गये! अब हमारे संसार का अंत आ गया है, हम सिद्धि के मार्ग पर पहुँच गये हैं।

आत्मा में ही ऐसी शक्ति है कि अपने स्वभाव में से सम्यग्दर्शनादि कार्य को प्राप्त करें; इसके अतिरिक्तकिसी भी पुण्य में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह सम्यग्दर्शनादि को प्राप्त करें। कर्ता स्वयं परिणमित होकर जिस कार्यरूप हो, वह उसका कर्म है। आत्मा ही परिणमित होकर सम्यग्दर्शनादिरूप होता है; राग या निमित्त परिणमित होकर कहीं उसरूप नहीं होते। अहो! अपने निर्मलकर्मरूप होने की कर्मशक्ति मुझमें ही है—इसप्रकार अपने आत्मा को प्रतीति में लेकर उसी के सन्मुख होने से आत्मा स्वयं परिणमित होकर अपने निर्मल कर्मरूप हो जाता है। सम्यग्दर्शनरूप कार्य, सम्यग्ज्ञानरूप कार्य, सम्यग्चारित्ररूप कार्य—इन कर्मोंरूप आत्मा स्वयं अपनी कर्मशक्ति से होता है; किन्तु महाव्रतादि विकल्पों के आधार से या शरीर की दिगम्बरदशा के आधार कहीं सम्यग्कार्य नहीं होता। 'कर्मशक्ति' किसी पर के आधार से या विकल्प के आधार से नहीं है, इसलिये वे कोई आत्मा के कर्मरूप नहीं होते; अकेली पर्याय के आधार से भी कर्मशक्ति नहीं है; इसलिये पर्याय के आश्रय से निर्मल कर्म प्राप्त नहीं होता अथवा पर्याय स्वयं दूसरे समय के कर्मरूप नहीं होती। कर्मशक्ति तो आत्मद्रव्य की है; इसलिये आत्मद्रव्य के आश्रय से आत्मा स्वयं निर्मल कर्मरूप से परिणमित हो जाता है। इसप्रकार आत्मा और उसके कर्म की अभेदता है। उस अभेदता के आश्रय से ही कर्मशक्ति की यथार्थ प्रतीति होती है। इसमें व्यवहार के आश्रय से निर्मल कार्य होता है—यह बात तो भूसी की तरह उड़ जाती है। अनंत शक्ति से अभेद चैतन्यद्रव्य है, उसी के आश्रय से समस्त गुणों का निर्मल कार्य होता है; इसके अतिरिक्त श्रद्धादि गुण का भेद करके उस भेद के लक्ष से सम्यग्दर्शनादि कार्य करना चाहे तो ऐसा नहीं होता। गुणभेद को लक्ष में लेकर

आश्रय करने से गुण सम्यक्रूप से परिणमित नहीं होते; अभेदद्रव्य को लक्ष में लेकर आश्रय करने से श्रद्धादि समस्त गुण अपने-अपने निर्मल कार्यरूप से परिणमित होने लगते हैं।

आत्मा का ऐसा सूक्ष्म स्वरूप न समझे और दान-दयादि बाह्य स्थूलता में धर्म मान ले, वह कहीं जैनधर्म का स्वरूप नहीं है; वह तो मूढ़ जीवों का माना हुआ मिथ्या धर्म है। जिस प्रकार कड़वे चिरायते की थैली पर कोई 'मिसरी' नाम लिख दे तो उससे कहीं चिरायता कड़वाहट को छोड़कर मीठा नहीं हो जायेगा। उसी प्रकार दान-दयादि कड़वे विकारी भावों को 'धर्म' नाम देकर कुगुरु, मूढ़ जीवों को ठग रहे हैं; किन्तु उससे कहीं दया-दानादि का राग, वह धर्म नहीं हो जायेगा। धर्म की प्राप्ति तो अपने आत्मा में से शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही होती है। धर्म, वह आत्मा का कर्म है और उसकी प्राप्ति आत्मा में से ही होती है। सम्यग्दर्शन यद्यपि श्रद्धागुण का कार्य है, किन्तु वह श्रद्धागुण अनंत गुण के पिण्ड से पृथक् होकर कार्य नहीं करता... अलग-अलग गुण की अलग-अलग 'कर्मशक्ति' (कार्यरूप होने की शक्ति) नहीं है, किन्तु अखण्ड आत्मद्रव्य की एक ही कर्मशक्ति है, वह समस्त गुणों में व्याप्त होकर अपना कार्य करती है। इसलिये समस्त गुणों का निर्मल कार्य अखण्ड द्रव्य के ही आश्रय से होता है। केवलज्ञान भी आत्मा का कर्म है और आठ कर्म रहित ऐसी सिद्धदशा भी आत्मा का कर्म है। आत्मा अपनी शक्ति से ही उस कर्मरूप परिणमित होता है, कहीं बाहर से वह कर्म नहीं आता।

'आत्मभावना से जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है;'

—इसका क्या मतलब ? केवलज्ञानरूपी कार्य, जीव बाहर से नहीं लाता, किन्तु अपने में तन्मय होकर अपने आत्मस्वभाव की भावना करते-करते आत्मा स्वयं ही केवलज्ञानरूप हो जाता है। 'आत्मभावना भाने से...' ऐसा गोखता रहे, किन्तु आत्मा क्या है और उसकी भावना कैसी होती है—उसे न जाने, तथा बाह्य से अथवा इस बोलने के राग से मुझे लाभ हो जायेगा—ऐसा माने उसे केवलज्ञान नहीं होता, वह तो अज्ञानी ही रहता है। केवलज्ञान कैसे होता है ?—कहते हैं कि आत्मा की भावना से। आत्मा कैसा ?—तो कहते हैं कि ज्ञानादि अनंत गुणों से परिपूर्ण; ऐसे आत्मा की भावना अर्थात् उसके सन्मुख होकर उसकी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उसमें लीनता, वह केवलज्ञान का उपाय है। जिसे निमित्त की या पुण्य की भावना है, उसे आत्मा की भावना नहीं है।

इस आत्मा को शांति की आवश्यकता है। आत्मा का शांतिरूपी कार्य कहाँ है—उसकी यह बात है। इस आत्मा का शांतिरूपी कार्य शुद्धस्वभाव के अतिरिक्त किसी विकल्प में, देव-गुरु-शास्त्र में या गुफा-पर्वत आदि में नहीं है; इसलिये हे भाई! बाह्य दृष्टि छोड़कर अपने आत्मा में ही शांति को ढूँढ़। जिस प्रकार मिसरी स्वयं मीठी है, नीबू स्वयं खट्टा है, कोयला स्वयं काला है, अग्नि स्वयं गर्म है; उसी प्रकार आत्मा स्वयं शांतिस्वरूप है। भाई! ऐसे अपने आत्मा की ओर देखने से वह स्वयं ही शांतिरूप हो जायेगा। इसके अतिरिक्त जो बाह्य में शांति ढूँढ़े अथवा बाह्य साधन द्वारा शांति प्राप्त करना चाहे, वह अपने आत्मा को या आत्मा की शक्ति को नहीं मानता है; उसे शांति नहीं मिलती।

जिस प्रकार कोई मनुष्य चक्रवर्ती को पहिचानकर उसकी सेवा करे तो उसे लक्ष्मी आदि का लाभ मिलेगा; किन्तु चक्रवर्ती को न पहिचाने और किसी निर्धन भिखारी को चक्रवर्ती मानकर उसकी सेवा करने लगे तो उसे कोई लाभ नहीं होगा; मात्र वह दु:खी ही होगा; उसी प्रकार चैतन्यचक्रवर्ती आत्मा को पहिचान कर जो उसका सेवन करे, उसे तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप लक्ष्मी का लाभ प्राप्त होता है; किन्तु चैतन्यचक्रवर्ती को न पहिचाने और राग की तुच्छ वृत्तियों को ही चैतन्यस्वभाव मानकर सेवन करे तो उसे रत्नत्रय का लाभ प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह दु:खी ही होता है।

'आप पुण्य से धर्म नहीं मानते, इसलिये आप पुण्य को उड़ाते हो'—इसप्रकार कुछ लोग नासमझी के कारण शिकायत करते हैं; किन्तु वास्तव में जो पुण्य को पुण्य न मानकर पुण्य को सच्चा धर्म मानते हैं, वे ही पुण्य को उड़ाते हैं; पुण्य को ही धर्म माना; इसलिये पुण्यतत्व का पृथक् अस्तित्व उनकी मान्यता में रहा ही नहीं। ज्ञानी तो पुण्य को पुण्यरूप जानते हैं, और धर्म को उससे भिन्न धर्मरूप जानते हैं, इसलिये उनकी मान्यता में पुण्य और धर्म दोनों का भिन्न-भिन्न यथावत् अस्तित्व रहता है। ज्ञानी तो पुण्य को पुण्यरूप से स्थापित करते हैं और अज्ञानी उसकी उत्थापना करते हैं।

जिस प्रकार हरी निबोली को कोई नीलमणि मान ले, तो वह निबोली को भी नहीं जानता

और नीलमणि को भी नहीं पहिचानता। काँच के टुकड़े को कोई हीरा मान ले, तो वह काँच को भी नहीं जानता और हीरे को भी नहीं पहिचानता। बिल्ली को ही शेर मान ले, तो वह बिल्ली को भी नहीं जानता और शेर को भी नहीं पहिचानता; उसी प्रकार जो राग को ही वीतराग धर्म मान ले, वह राग को भी नहीं जानता और उसे धर्म की भी पहिचान नहीं है। व्यवहार के आश्रय से निश्चय का प्रगट होना माने, वह न तो व्यवहार का जानता है और न निश्चय को। निमित्त-उपादान का कोई कार्य करता है—ऐसा जो मानता है, वह निमित्त को भी नहीं जानता और न उपादान को ही। स्व का कार्य पर के आश्रय से होता है—ऐसा जो मानता है, वह स्व को भी नहीं जानता और पर को भी नहीं पहिचानता।

देव-गुरु-शास्त्र का उपदेश तो ऐसा है कि तेरे आत्मा के आश्रय से ही तेरा धर्म है, पराश्रय से शुभराग की वृत्ति उठे, वह तेरा धर्म नहीं है; तथापि जो पुण्य को धर्म मानता है, उसने देव-गुरु-शास्त्र को, पुण्य को या धर्म को—किसी को नहीं माना; निश्चय-व्यवहार को या द्रव्य-गुण-पर्याय को भी नहीं जाना है। संत कैसे होते हैं, धर्मात्मा कैसे होते हैं, सच्चे वैराग्य की—त्याग की या व्रतादि की भूमिका कैसी होती है, उसकी उसे खबर नहीं है। अहो! जिसकी प्रतीति में मूलभूत चैतन्यस्वभाव नहीं आया, उसमें किसी भी तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने की शक्ति नहीं है। अपने चैतन्यस्वभाव का आश्रय करते ही ज्ञान की स्व-परप्रकाशक शक्ति विकसित हो जाती है और वह स्व-पर को यथार्थ जानती है। मात्र पर की ओर झुका हुआ ज्ञान, स्व को या पर को—किसी को यथार्थ नहीं जानता और स्वभाव की ओर झुका हुआ ज्ञान, स्व को तथा पर को—दोनों को यथार्थ जानता है। अहो! इसमें जैनशासन का गंभीर रहस्य है। इस रहस्य को समझे बिना जैनशासन के मूल का पता नहीं चल सकता। जहाँ स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ अपने स्वभाव में ज्ञान-आनन्द आदि का परिपूर्ण सामर्थ्य है, उसे जाना; वर्तमान पर्याय में कितने ज्ञान-आनन्द प्रगट हुए हैं, वह भी जाना; कितने बाकी हैं, वह भी जाना; ज्ञान-आनन्द प्रगट होने में निमित्त (देव-गुरु आदि) कैसे होते हैं, वह भी जाना; ज्ञान-आनन्द प्रगट हुए उसके साथ (साधकपने में) किस भूमिका में कैसा व्यवहार होता है और कैसे रागादि छूट जाते हैं, वह भी जाना; दूसरे ज्ञानी-मुनियों की अंतर

दशा कैसी होती है, वह भी जाना। इसप्रकार शुद्ध आत्मस्वभावोन्मुख होकर उसे जानने से समस्त जैनशासन को जान लिया और जिसने ऐसे आत्मस्वभाव नहीं जाना, उसने जैनशासन के एक भी तत्त्व को यथार्थ रूप से नहीं जाना।

देखो, यह धर्म और धर्म की रीति कहलाती है।

धर्म क्या है ?—आत्मा की निर्मल पर्याय;

धर्म कैसे होता है ?—शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से।

शुद्ध स्वभाव को न जाने और अन्य के आश्रय से जो धर्म माने, उसने धर्म का स्वरूप या धर्म की रीति को नहीं जाना है। शुभराग को शास्त्रों में कहीं धर्म का परम्परा कारण कहा हो तो वह उपचार से है—ऐसा समझना चाहिये; जब उस राग का आश्रय छोड़कर शुद्धस्वभाव का आश्रय किया, तभी धर्म हुआ और पूर्व के राग को उपचार से कारण कहा; किन्तु वास्तविक कारण वह नहीं है; वास्तविक कारण तो शुद्धस्वभाव का आश्रय किया, वही है।

साधक जीव अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय करके अपने निर्मल ज्ञानादि कार्यरूप होता है। वहाँ स्वाश्रय से सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित होने पर, उस-उस भूमिका में वर्तते हुए रागादि को भी यह ज्ञेयरूप से जानता है। उस राग को जानते समय भी उसे जाननेवाला जो ज्ञान है, वही धर्मी को अपने कर्मरूप से है, किन्तु जो राग है, उसे वे अपने कर्मरूप से स्वीकार नहीं करते; उसे तो ज्ञान से भिन्न जानते हैं। राग को जानते समय भी श्रद्धा में रागरहित स्वभाव का ही अवलम्बन वर्तता है; इसलिये ऐसी स्वभावदृष्टि में ज्ञानी को राग तो 'असद्भूत' हो गया। राग को जानते हुए उनका जोर राग पर नहीं जाता, उनका जोर तो ज्ञानस्वभाव पर ही रहता है, उस ज्ञानस्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्याय ही उन्हें 'सद्भूत' रूप से वर्तती है, रागादि को वे 'असद्भूत' जानते हैं। मिथ्यादृष्टि राग से भिन्न शुद्धस्वभाव को नहीं जानता, वह तो राग को स्वभाव के साथ एकमेकरूप से ही जानता है, इसलिये उसे तो 'असद्भूत' ऐसे राग का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार शुद्धस्वभावरूप निश्चय के ज्ञान बिना रागादि व्यवहार का ज्ञान सम्यक् नहीं होता; निश्चय के ज्ञानपूर्वक ही व्यवहार का ज्ञान सम्यक् होता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है; उसे पहिचानने के लिये उसकी शक्तियों का यह वर्णन है। अंतर्मुख ज्ञान द्वारा भगवान आत्मा को लक्ष में लेने पर वह अनंत शक्ति के एकरूप स्वाद से अनुभव में आता है। उन अनंत शक्तियों में एक ऐसी कर्मशक्ति है कि अपने स्वभाव में से प्रगट होनेवाले निर्मल भावमय होकर आत्मा स्वयं अपना कर्म होता है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को जानना, वह धर्म का मूल है।

प्रश्नः—आप आत्मा को जानने की बात करते हैं, किन्तु परिग्रह छोड़ने को क्यों नहीं कहते?

उत्तर :—मैं अपनी ज्ञानादि अनंत शक्तियों से परिपूर्ण हूँ और पर का एक अंश भी मुझमें नहीं है—ऐसा भेदज्ञान करके, अपने अनंत शक्ति सम्पन्न आत्मा की पकड़ होने से (श्रद्धाज्ञान में उसे पकड़ने से) बाह्य पदार्थों की और परभावों की पकड़ छूट जाती है, इसलिये श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से वहाँ सर्व परिग्रह का त्याग हो जाता है। ऐसा त्याग होने से अनंत संसार छूट जाता है। मिथ्यात्व के कारण जो रागादि की एकत्वबुद्धिरूप पकड़ है, वही अनंत संसार के कारणरूप महान परिग्रह है; उस परिग्रह का त्याग कैसे हो—उसकी यह बात है। मिथ्यात्व का त्याग होने के पश्चात ही अविरति आदि का त्याग होता है। अंतर में अनंत गुणों के पिण्ड की जिसे पकड़ नहीं है और बाह्य में त्यागी होकर ऐसा मानता है कि मैंने परिग्रह छोड़ दिया, किन्तु अंतर में राग की रुचि के कारण समस्त परिग्रह की पकड़ उसके बनी हुई है, इसलिये उसने किंचित् भी परिग्रह छोड़ा है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में स्वीकार नहीं किया जाता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा अपने स्वभाव से निर्मल कार्यरूप परिणमित होता है; उस निर्मलकार्य में विकारी कार्य का अभाव है, इसलिये विकार के निमित्तरूप परिग्रह की पकड़ भी वहाँ छूट गई है। इसप्रकार निर्मल कार्य में परिग्रह त्याग भी आ ही जाता है।

यह ज्ञानरूप आत्मा बाह्य पदार्थों से तो भिन्न ही है और राग से भी वास्तव में भिन्न है; राग के साथ तन्मय होने का उसका स्वभाव नहीं है; ज्ञानादि के साथ तन्मय होने का ही उसका स्वभाव है। स्वसन्मुख हुआ, ज्ञान आत्मा के साथ तन्मय होकर आत्मा को जानता है, और राग को जाननेवाला ज्ञान, राग में तन्मय हुए बिना ही उसे जानता है। ज्ञान यदि स्वसन्मुख होकर आत्मा में

तन्मय न हो तो वह आत्मा को यथार्थरूप से नहीं जान सकता। और यदि ज्ञान, राग में तन्मय हो जाये तो वह राग को भी नहीं जान सकता; राग से भिन्न रहे, तभी वह राग को जान सकता है। ज्ञान, स्व को तो तन्मय होकर जानता है और पर को—रागादि को तन्मय हुए बिना ही जानता है—ऐसा ही ज्ञान का स्वभाव है। ऐसे निर्मल ज्ञानरूप कार्य को प्राप्त करके, उसमें तन्मय होकर आत्मा स्वयं अपने कर्मरूप होता है—ऐसी उसकी कर्मशक्ति है।

—यहाँ ४१वीं कर्मशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

परमपारिणामिकस्वभाव

आत्मा का स्वभाव परमपारिणामिकभावरूप त्रिकाल है; उस स्वभाव को ग्रहण करने-पकड़ने से ही मुक्ति होती है। वह स्वभाव किसप्रकार पकड़ा जाता है? रागादि औदयिकभावों द्वारा उसे नहीं पकड़ा जा सकता; औदयिकभाव तो बहिर्मुख है और पारिणामिक स्वभाव अन्तर्मुख है; उस बहिर्मुख भाव द्वारा अन्तर्मुख भाव को नहीं पकड़ा जा सकता। अब, जो अन्तर्मुखी उपशम-क्षयोपशम अथवा क्षायिकभाव हैं उनके द्वारा वह पारिणामिक स्वभाव यद्यपि पकड़ा जाता है, परन्तु उन उपशमादि भावों के विकल्प द्वारा वह नहीं पकड़ा जाता। अन्तर्मुख होकर उस परम स्वभाव को पकड़ने से उपशमादि निर्मल भाव प्रकट होते हैं। वे भाव स्वयं कार्यरूप हैं और परम पारिणामिक स्वभाव कारणरूप परमात्मा है।

(-प्रवचन से)

श्रुतपंचमी

[ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी; वीर संवत् २४८२]

(समाधिशतक गाथा १६)

आज श्रुतपंचमी का महान दिवस है; उसका इतिहास इसप्रकार है—

वीतराग सर्वज्ञ अन्तिम तीर्थंकर देवाधिदेव महावीर परमात्मा के श्रीमुख से दिव्यध्वनि द्वारा जो हितोपदेश निकला, उसे झेलकर गौतम गणधरदेव ने एक मुहूर्त में बारह अंग की रचना की। बारह अंग में तो अपार श्रुतज्ञान का समुद्र भरा है। महावीर भगवान को मोक्ष होने के पश्चात् गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बूस्वामी—यह तीन केवली, तथा आचार्य विष्णु, नन्दि, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु—यह पाँच श्रुतकवेली भगवन्त १६२ वर्ष में अनुक्रम से हुए। तत्पश्चात् बारह अंग का ज्ञान परम्परा से कम होता चला आ रहा था और उसका कुछ भाग धरसेनाचार्यदेव को गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ था। महावीर भगवान का मोक्ष होने के ६८३ वर्ष बाद धरसेनाचार्यदेव हुए। वे सौराष्ट्र के गिरनार पर्वत की चन्द्रगुफा में विराजते थे। वे अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता एवं महान श्रुतवत्सल थे। भगवान की परम्परा से चले आ रहे श्रुत के विच्छेद का भय होने से उन्होंने महिमानगरी में धर्मोत्सव के हेतु एकत्र हुए दक्षिण के आचार्यों पर एक लेख भेजा; उस लेख द्वारा धरसेनाचार्यदेव का आशय समझकर उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण-धारण करने में समर्थ, महाविनयवन्त, शीलवन्त ऐसे दो मुनियों को धरसेनाचार्यदेव के पास भेजा। गुरुओं द्वारा भेजे जाने से जिन्हें अत्यन्त तृप्ति हुई है; जो उत्तम देश, उत्तम-कुल और उत्तम जाति में उत्पन्न हुए हैं, समस्त कलाओं में पारंगत हैं—ऐसे उन दोनों मुनिवरों ने तीन बार आचार्य भगवन्तों की आज्ञा लेकर धरसेनाचार्यदेव के पास आने के लिये गमन किया।

जब वे दोनों मुनिवर आ रहे थे, उसी समय यहाँ रात्रि के पिछले प्रहर में धरसेनाचार्यदेव ने ऐसा शुभस्वप्न देखा कि दो महान सुन्दर श्वेत वृषभ भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर नम्रता के साथ उनके चरणों में नमस्कार कर रहे हैं।—ऐसा मंगलस्वप्न देखकर उन्हें अत्यन्त संतोष हुआ और उन्होंने 'जयवंत हो श्रुतदेवता' वाक्य का उच्चारण किया।

उसी दिन पूर्वोक्त दोनों मुनिवर आ पहुँचे और भक्तिपूर्वक आचार्यदेव के चरणों में वंदनादि किये। महाधीर गम्भीर एवं विनय की मूर्ति ऐसे उन दोनों मुनियों ने तीसरे दिन धरसेनाचार्यदेव से

विनयपूर्वक निवेदन किया कि प्रभो! इस कार्य के लिये हम दोनों आपके चरणकमल में आये हैं। प्रत्युत्तर में आचार्यदेव ने आशीर्वचन कहे कि—'बहुत अच्छा, कल्याण हो!'

यद्यपि शुभस्वप्न द्वारा ही उन्होंने उन मुनियों की विशेषता जान ली थी, तथापि पुनः परीक्षा के लिये धरसेनाचार्यदेव ने उन दोनों को मंत्र विद्या देकर कहा कि दो दिन के उपवासपूर्वक यह विद्या सिद्ध करो। परीक्षा के हेतु आचार्य ने एक विद्या के मंत्र में अधिक अक्षर दिये थे और दूसरे में कम। विद्या सिद्ध होने पर दोनों मुनिवरों को दो देवियाँ दिखाई दीं; उनमें एक के दौत बाहर निकले हुए थे और दूसरी कानी थी। उन्हें देखकर मुनियों को विचार आया कि 'देव कभी विकृतांग नहीं होते', इसलिये अवश्य ही विद्या के मंत्र में कुछ भूल है। इसलिये महासमर्थ ऐसे उन मुनिवरों ने मंत्राक्षर समान किये। जिसमें अधिक अक्षर थे, वे निकाल दिये और जिसमें कम थे, वे पूरे किये। फिर वे मंत्र पढ़ते ही दोनों देवियाँ समानरूप में दिखाई दीं। भगवान धरसेनाचार्यदेव के पास जाकर मुनियों ने सब वृतान्त सुनाया और आचार्यदेव ने सन्तुष्ट होकर उन्हें भगवान की परम्परा से चला आ रहा अगाध श्रुतज्ञान पढ़ाना आरम्भ किया।

अषाढ़ शुक्ला एकादशी के प्रातःकाल ग्रन्थ समाप्त होने पर भूत जाति के व्यंतर देवों ने आकर वाद्यध्वनिपूर्वक उन दोनों की भारी पूजा की। भूत नामक देवों द्वारा पूजा की जाने से धरसेनाचार्यदेव ने एक मुनि का नाम 'भूतबलि' रखा और दूसरे मुनि के दाँत देवों ने एक-से कर दिये, इसलिये उनका नाम 'पुष्पदन्त' रखा।—इसप्रकार श्रुतज्ञान पढ़ाकर उन्होंने तुरन्त उन पुष्पदन्त और भूतबलि नामक मुनियों को वहाँ से विदा किया।

तत्पश्चात् उन दोनों मुनियों ने उस श्रुतज्ञान को षट्खण्डागम के रूप में गूँथा... और इसप्रकार श्रुतज्ञान का प्रवाह बनाये रखा।

महावीर भगवान ने जो कहा है और वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान जो कह रहे हैं, उसका अंश इन शास्त्रों में है।

यह राग-द्वेष-मोह रहित वीतरागी पुरुषों द्वारा रचित वाणी है। सर्वज्ञ भगवान की परम्परा से आनेवाला ऐसा श्रुतज्ञान टिका रहा, उसके हर्षोपलक्ष में चतुर्विध संघ ने मिलकर अंकलेश्वर में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन महामहोत्सवपूर्वक श्रुतज्ञान का बहुमान किया; तभी से यह दिन 'श्रुतपंचमी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज भी प्रतिवर्ष मनाया जाता है। आजकल उसका विशेष प्रचार हो रहा है। अनेक स्थानों पर तो आठ-आठ दिन तक उत्सव मनाकर श्रुतज्ञान की

प्रभावना की जाती है। यह श्रुतपंचमी का दिन महान है। अहा, दिगम्बर सन्तों ने सर्वज्ञ भगवान की वाणी को सुरक्षित रखा है।

पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य भगवन्तों ने जिन षट्खण्डागमों की रचना की, उन पर वीरसेनाचार्यदेव ने 'धवला' नामक महान टीका रची है। वे वीरसेनाचार्य भी इतने समर्थ थे कि सर्वार्थगामिनी (-सकल अर्थ में पारंगत) ऐसी उनकी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर बुद्धिमान लोगों को सर्वज्ञ की सत्ता में सन्देह नहीं रहता था; अर्थात् उनकी अगाध ज्ञानशक्ति को देखते ही बुद्धिमानों को सर्वज्ञ की प्रतीति हो जाती थी। ऐसी अगाधशक्तिवाले आचार्यदेव ने षट्खण्डागम की टीका रची है। ताड़पत्र पर लिखे हुए यह परमागम सिद्धान्तशास्त्र सैकड़ों वर्षों से मूलबद्री के शास्त्र भण्डारों में विद्यमान हैं। कुछ वर्ष पहले तो उनके दर्शन भी दुर्लभ थे... किन्तु पात्र जीवों के महाभाग्य से आज वे प्रकाशित हो चुके हैं।

आचार्य भगवन्तों ने सर्वज्ञ भगवान की वाणी का सार इन शास्त्रों में भरा है। तदुपरान्त कुन्दकुन्दाचार्यादि जैसे अन्य अनेक महासमर्थ आकाश स्तम्भवत् संत जैनशासन में हो गये हैं जिन्होंने समयसारादि अलौकिक महाशास्त्रों की रचना की है... उनका प्रत्येक अक्षर आत्मानुभव में कलम डुबा-डुबाकर लिखा गया है। उन संतों की वाणी का गम्भीर रहस्य गुरुगम के बिना साधारण जीव नहीं समझ सकते। महावीर भगवान की परम्परा से कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ और फिर भी स्वयं सीमंधर भगवान के उपदेश का साक्षात् श्रवण किया—उन दोनों को आत्मानुभव के साथ मिलाकर आचार्य भगवान ने श्री समयसार में भर दिया है। इस समाधिशतक के बीज भी समयसार में ही भरे हैं। पूज्यपादस्वामी भी महासमर्थ संत थे। उन्होंने इस समाधिशतक में संक्षेप में अध्यात्मभावना भर दी है। इसकी पन्द्रह गाथाएँ पढ़ी जा चुकी हैं, अब सोलहवीं गाथा प्रारम्भ होती है।

×××

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसे जानकर जिसने उसी में आत्मबुद्धि की, वह अंतरात्मा हो गया; और पूर्वकाल में जो कभी नहीं हुआ, ऐसा अपूर्व लाभ उसे प्राप्त हुआ। जहाँ 'अलब्ध लाभ' हुआ अर्थात् पूर्वकाल में जो कभी प्राप्त नहीं हुआ था, उसकी प्राप्ति हुई, वहाँ धर्मी को ऐसा लगता है कि अहो! मेरा आत्मा ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप है; उसे पूर्वकाल में मैंने कभी नहीं जाना... और बहिरात्मबुद्धि से अभी तक भटकता रहा। अब मुझे अपने अपूर्व आत्मस्वभाव का भान हुआ।

इसप्रकार अलब्ध आत्मा की प्राप्ति का संतोष हुआ कि अहो! मुझे अपूर्व लाभ हुआ है; पूर्वकाल में कभी ऐसे आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई थी। पूर्वकाल में मैं ऐसे आत्मा से च्युत होकर बाह्य विषयों में ही वर्तता रहा; किन्तु अब आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति से संतोष हुआ।—यह बात १६वीं गाथा में कहते हैं:—

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

वर्तमान में जिसे आत्मा का भान हुआ है—ऐसा अंतरात्मा अपनी पूर्वदशा का विचार करता है कि अरे! मैंने पूर्वकाल में कभी अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं समझा और अपने आनन्दस्वरूप से च्युत होकर, इन्द्रियों द्वारा पतित होकर मैं विषयों में ही भटकता रहा; उन्हीं में सुख मानकर मैं अपने स्वरूप से भ्रष्ट हुआ।

आत्मस्वभाव का भान होने पर अंतर में कृतकृत्यता का वेदन होता है। अहो! मेरी प्रभुता मुझमें है; अपनी प्रभुता को मैं अभी तक भूला हुआ था, इसलिये भटकता रहा। अपने आनन्दस्वरूप से च्युत होकर विषयों में लीनता के कारण मैं दु:खी ही हुआ; किन्तु अब मुझे अपने आत्मा की अपूर्व प्राप्ति हुई है। ऐसे आत्मा की प्राप्ति अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-रमणता, वह समाधि का कारण है। भगवान की स्तुति में भगवान के निकट वरदान माँगता है कि "**समाहिवरमुत्तमं दिंतु**" हे भगवान! मुझे समाधि का उत्तम वरदान दो। वह समाधि कैसी होती है—उसकी यह बात है।

वर्तमान अपूर्वदशा के साथ अंतरात्मा अपनी पूर्वदशा का भी विचार करता है कि अरे..रे! इन्द्रिय विषयों में मैंने अनंत काल बिताया, तथापि उससे अंशमात्र तृप्ति नहीं हुई; किन्तु अब विषयातीत अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को जानने से अपूर्व तृप्ति हो गई। वर्तमान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, तब पूर्वकाल के इन्द्रिय विषयों के प्रति उदासीनता हो गई और ऐसा विषाद हुआ कि अरेरे! मेरे चैतन्यानन्द से च्युत होकर मैंने व्यर्थ ही अनन्तकाल बिताया।

जिसने आत्मा के अतीन्द्रिय अमृत का स्वाद चखा, उसे विषय, विष के समान भासित होते हैं.... पर विषयों की वृत्ति उसे दु:खरूप मालूम होती है; आत्मा के निर्विकल्प आनन्द के वेदन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं वह अपना आनन्द स्वप्न में भी नहीं मानता। जिसे विषयों में, राग में मिठास मालूम हो, उसने अतीन्द्रिय आत्मा के वीतरागी अमृत का स्वाद नहीं चखा है।

एक ओर अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा है; दूसरी ओर बाह्य में इन्द्रिय-विषय हैं;

—वहाँ जिसमें सुख माने उसी ओर जीव झुकता है। जो जीव अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव की ओर झुकता है, वह तो अपने अतीन्द्रिय सुख को अनुभव करता है; और जो बाह्य विषयों में सुख मानकर इन्द्रिय विषयों की ओर झुकता है, वह घोर संसार के दुःख प्राप्त करता है, आमने-सामने दो मार्ग हैं—(१) अतीन्द्रियस्वभाव से च्युत होकर इन्द्रिय-विषयों की ओर झुकाव, वह संसारमार्ग; और (२) इन्द्रिय-विषयों में सुखबुद्धि छोड़कर अंतर के ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर उन्मुखता, सो मोक्षमार्ग।

अहो! आत्मा में आनन्द के निधान भरे हैं, वे संत दिखलाते हैं, किन्तु अज्ञान से अन्ध हुए जीव अपने आनन्दनिधान को नहीं देखते।

आनंद ब्रह्मणो रुपं निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यंति जात्यंधा इव भास्करम्॥ *(परमानन्दस्तोत्र)*

अहो, निजदेह में विद्यमान यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वरूप है; आनन्द ही उसका रूप है; किन्तु अन्तर में लक्ष करके आँख खोले तब दिखाई दे न? जिसप्रकार जन्मांध मनुष्य जगमगाते हुए सूर्य को भी नहीं देख सकते, उसीप्रकार इन्द्रिय-विषयों में ही सुख मानकर वर्तनेवाले मोहांध अज्ञानी जीव अपने आनन्दस्वरूप आत्मा को नहीं देखते। वे विषयों में ऐसे मूर्च्छित हो गये हैं कि किंचित् पीछे मुड़कर चैतन्य की ओर दृष्टि भी नहीं करते। ज्ञानी जानता है कि मैंने भी पूर्व में अज्ञानदशा में अनंत काल गँवाया; किन्तु अब मुझे मेरे आत्मा का भान हुआ है; अब मैंने अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चखा है; अब मुझे स्वप्न में भी बाह्य विषयों में सुखबुद्धि नहीं होगी।

ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमांही सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषयसुख मांही, यह विपरीत, संभवे नांही॥

सच्चे सुख के लिये सीधा मार्ग (यथार्थ उपाय)

प्रकाशनेवाले

तत्वज्ञान के लिये सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ

१- सम्यग्दर्शन-(दूसरी आवृत्ति)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जो अपना असली स्वरूप-स्वाधीनसुख और उसका सच्चा उपाय समझने में स्वच्छ दर्पण समान है, इस बात को अच्छे ढंग से शास्त्राधार सहित बताया है, जैनधर्म में ही सच्चा विश्व दर्शन क्यों है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके स्वतंत्र वस्तुस्वभाव समझने की अनेक बात स्पष्ट करने में आई हैं। आद्योपांत पढ़े बिना उसका महत्व ख्याल में नहीं आता। पृष्ठ सं० २६६, मूल्य १.६३।

२- लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जो गाइड है—जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं, सभी में प्रचार होने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन देंगे। पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य ०.१९ नये पैसे।

३- श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह-

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्राय: सब तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत आवश्यक जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना इत्यादि वर्णन होने से अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १.४५। १० पुस्तक एक साथ लेने पर कमीशन देंगे।

४- जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३

जिसमें सर्वोत्तम शैली से शास्त्राधार सहित तत्त्वार्थों के विषय में ऐसा समाधान दिया है कि

शास्त्रों का अर्थ नहीं समझनेवालों का भी सच्चा नि:शंक समाधान हो सकता है और सभी को उपयोग में आने योग्य है। पृ० सं० तीनों भाग की ४००, मूल्य प्रत्येक का ०.५६।

५- ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव-

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है। जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तुस्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज़ है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्त गर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त।

३- अनेकान्त, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४ - द्रव्य-पर्याय संबंधी अनेकान्त।

५- अनन्त पुरुषार्थ।

६. वस्तुविज्ञान अंक जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।

७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो—इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है उस पर खास प्रवचनों का सार—जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है बढ़िया जिल्द सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४०० मूल्य २-५० नये पैसे।५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० मूल्य लागत मात्र, ५) पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवाले को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

छप रहा है!! शीघ्र ही छप रहा है!! छप गया!!!

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र

श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत
जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है।
मूल्य ४॥)

पता— (१) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
(२) श्री महेन्द्रकुमार सेठी
ठि० ६२ धनजी स्ट्रीट, मुंबई नं० ३

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	छप रहा है।	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५ ॥=)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्म पाठ संग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८	
तृतीय भाग	॥-)	-१०-११-१२-१३	३ ।।।)
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।